सिब्गे ऐंड सन्ज़

(पुस्तक-विक्रेता व वितरक)

मुश्ताक़ अहमद यूसुफ़ी

(यह रचना एक रेखाचित्र है जो मुश्ताक़ अहमद यूसुफ़ी की पुस्तक ख़ाकम बदहन (मेरे मुँह में ख़ाक) में शामिल है। इसके मुख्यपात्र सिब्गे (शेख़ सिबग़तुल्लाह) एक कुतुब-फ़रोश (पुस्तक-विक्रेता) हैं और कथावाचक के घनिष्ठ मित्र। अपनी सनक के कारण वे इस धंधे में बुरी तरह असफल होते हैं। यूसुफ़ी ने इस रेखाचित्र में सिब्गे के बिज़नेस के तरीक़ों और स्वभाव की सनक को हास्य व व्यंग्य का लक्ष्य बनाया है। यह रचना समय से समझौता न कर पाने वाले एक व्यक्ति की ट्रेजेडी है जो हमें हँसाने के साथ-साथ उदास भी करती है।

इस रचना में कई उर्दू शायरों और लेखकों की रचनाशैली की ओर सूक्ष्म संकेत मिलते हैं जिससे उर्दू साहित्य से अपरिचित पाठकों के लिए निबंध कहीं-कहीं मुश्किल हो गया है। इसी कारण फ़ुटनोट में व्याख्याएँ देनी पड़ीं। यूसुफ़ी साहब की दूसरी सभी रचनाओं की तरह इसमें भी 'मिर्ज़ा' और 'प्रोफ़ेसर' का उल्लेख हुआ है। ये दोनों किरदार जिनके पूरे नाम 'मिर्ज़ा अब्दुलवदूद बेग' और 'प्रोफ़ेसर क़ाज़ी अब्दुल क़ुद्दूस एम.ए. बी.टी.गोल्डमेडलिस्ट' हैं, लेखक के मित्र या हमज़ाद (छायापुरुष) हैं। ये अपनी सनक, ऊटपटांग विचारों और विचित्र दलीलों के लिए जाने जाते हैं और हमें मुल्ला नसरुद्दीन की याद दिलाते हैं। यूसुफ़ी अपनी अकथनीय व उत्तेजक बातें अक्सर इन्हीं दोनों की ज़ुबान से कहलवाते हैं।

बात से बात निकालना, लेखनी के हाथों में स्वयं को सौंपकर मानो केले के छिलके पर फिसलते जाना, विषयांतर, हास्यास्पद परिस्थितियों का निर्माण, अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन, किरदारों की सनक और विचित्र तर्कशैली, एक ही वाक्य में असंगत शब्दों का जमावड़ा, शब्द-क्रीड़ा, अनुप्रास अलंकार, हास्यास्पद उपमाएं व रूपक, अप्रत्याशित मोड़, कविता की पंक्तियों का उद्धरण, पैरोडी और मज़ाक़ की फुलझड़ियों व हास्य रस की फुहारों के बीच साहित्यिक संकेत व दार्शनिक टिप्पणियाँ और प्रखर बुद्धिमत्ता, यूसुफ़ी साहब की रचना शैली की प्रमुख विशेषताएँ हैं। उनके फ़ुटनोट भी बहुत दिलचस्प होते हैं। इस निबंध में यूसुफ़ी साहब की रचना शैली की अनेक विशेषताएँ विद्यमान हैं।-----अनुवादक)

***

यह उस उम्मीद भरे ज़माने का ज़िक्र है जब उन्हें पुस्तकों की दुकान खोले और डेल कार्नेगी पढ़े दो-तीन महीने हुए होंगे और जब उनके होंठों पर हर समय वह धुली-मंझी मुस्कान खेलती रहती थी, जो आजकल सिर्फ़ टूथपेस्ट के विज्ञापनों में नज़र आती है। उस ज़माने में उनकी बातों में वह उड़कर लगने वाला जोश और उत्साह था जो आम तौर पर अंजाम से अनभिज्ञ सट्टेबाज़ों और नव-मुस्लिमों का लक्षण बताया जाता है।

दुकान क्या थी, किसी बिगड़े हुए रईस की लाइब्रेरी थी। मालूम होता था कि उन्होंने चुन-चुनकर वही पुस्तकें दुकान में रखी हैं, जो ख़ुद उनको पसंद थीं और जिनके बारे में उन्होंने हर प्रकार से ख़ुद को आश्वस्त

कर लिया था कि बाज़ार में उनकी कोई माँग है न खपत। हमारे मित्र मिर्ज़ा अब्दुल वदूद बेग ने दुकान में क़दम रखते ही अपनी सारी नापसंदीदा पुस्तकें इतने सुघड़ ढंग से एक जगह रखी देखीं तो एक बार अपनी पुरानी ऐनक पर ऐतबार नहीं आया और जब ऐतबार आ गया तो उल्टा प्यार आने लगा। अपने ख़ास खटमिट्ठे लहजे में बोले,

"यार! अगर आम लोगों के पसंद की भी दो-चार रख लेते तो गाहक दुकान से इस तरह न जाते, जैसे सिकंदर दुनिया से गया था —— दोनों हाथ ख़ाली!"

व्यापाराना मुस्कान के बाद फ़रमाया "मैं सिर्फ़ उम्दा किताबें बेचता हूँ।"

पूछा कि "उम्दा की क्या पहचान?"

फ़रमाया "सुनो! मेरे एक क़रीबी पड़ोसी हैं। प्रोफ़ेसर क़ाज़ी अब्दुल क़ुद्दूस। चौबीस घंटे किताबों में जुटे रहते हैं। इसलिए मैंने किया यह कि दुकान खोलने से पहले उनसे उनकी अपनी मनपसंद किताबों की मुकम्मल फ़ेहरिस्त (सूची) बनवा ली। फिर उन किताबों को छोड़कर, उर्दू की बाक़ी सारी किताबें ख़रीद के दुकान में सजा दीं। अब इससे बेहतर इन्तेख़ाब (चयन) कोई करके दिखा दे।"

फिर अचानक व्यापाराना लहजा बनाकर बहुवचन में गरजे "हमारी किताबें उर्दू अदब (साहित्य) की आबरू हैं।"

"और हम ये बहुत सस्ती बेचते हैं!" मिर्ज़ा ने उसी लहजे में जुमला पूरा किया।

मुसीबत यह थी कि हर पुस्तक, हर लेखक के बारे में उनकी अपनी राय थी। बेलाग और अटल, जिसका बुलंद आवाज़ में इज़हार व ऐलान वे धार्मिक दायित्व के समतुल्य समझते थे। इसलिए अक्सर ऐसा हुआ कि उन्होंने गाहक को पुस्तक ख़रीदने से ज़बरदस्ती रोका कि इससे उसकी साहित्य-रसिकता और अधिक भ्रष्ट हो जाने की आशंका थी। सच तो यह है कि वे कुतुब-फ़रोश (पुस्तक-विक्रेता) कम और क़ुतुब-नुमा (दिशासूचक यंत्र) ज़्यादा थे। कभी कोई ख़रीदार हल्की-फुल्की किताब माँग बैठता तो बड़े स्नेह से जवाब देते "यहाँ से दो गलियाँ छोड़कर सीधे हाथ को मुड़ जाइए। परले नुक्कड़ पर चूड़ियों की दुकान के पास एक लेटर बॉक्स नज़र आएगा। उसके ठीक सामने जो ऊँची सी दुकान है, बच्चों की किताबें वहीं मिलती हैं।" एक बार का वाक़या अब तक याद है कि एक सज्जन 'मोमिन' (रूमानी शायर) का ग़ज़ल-संग्रह पूछते हुए आए और चंद मिनट बाद स्वर्गीय मौलवी मोहम्मद इस्माईल मेरठी (उपदेशक व बालकवि) का कविता-संग्रह हाथ में लिए उनकी दुकान से निकले।

एक दिन मैंने पूछा "अख़्तर शीरानी (रूमानी कवि) की किताबें क्यों नहीं रखते?"

मुस्कुराए। फ़रमाया "वह नाबालिग़ शायर है।"

मैं समझा शायद MINOR POET का वे यही मतलब समझते हैं। मुझे आश्चर्यचकित देखकर ख़ुद ही स्पष्ट कर दिया कि "वह माशूक़ (प्रेयसी) से मिलने का इस तरह मुतालबा करता है जैसे कोई बच्चा टॉफ़ी माँग रहा है।"

इसपर मैंने अपने एक प्रिय कवि का नाम लेकर कहा कि " बेचारे होश ख़लीजाबादी[1] ने क्या ख़ता की है? उनके संग्रह भी नज़र नहीं आते।"

फ़रमाया कि "उस ज़ालिम के माशूक़ से मिलने के तक़ाज़े के ये तेवर हैं जैसे कोई काबुली पठान डाँट-डाँटकर डूबी हुई रक़म वसूल कर रहा है।"

मैंने कहा "मगर वे भाषा-सम्राट हैं।"

बोले "ठीक कहते हो। भाषा उनके घर की लौंडी है और वे उसके साथ वैसा ही सलूक करते हैं!"

आजिज़ होकर मैंने कहा "अच्छा, यूँ ही सही, मगर 'फ़ानी' बदायूनी क्यों ग़ायब हैं?"

फ़रमाया "हुश्श! वे निरे मुसव्विर-ए-ग़म (दुख के चितेरे) हैं!"

मैंने कहा, "ठीक! मगर मेहदी-उल-अफ़ादी[2] तो बड़े ललित निबंधकार हैं।"

बोले "छोड़ो भी! 'फ़ानी' मुसव्विर-ए-ग़म हैं, तो मेहदी मुसव्विर-ए-बिन्त-ए-अम (चचेरी बहन के चितेरे)! वल्लाह! वे ललित निबंध नहीं लालायित निबंध लिखते हैं।"

आख़िर में मैंने एक जाने-पहचाने प्रोफ़ेसर-आलोचक का नाम लिया, मगर पता चला कि उन्होंने अपने कानों से विद्वान प्रोफ़ेसर के पिता श्री को 'लखनऊ' को 'नखलऊ' और 'मिज़ाज शरीफ़' को 'मिजाज़ शरीफ़' कहते सुना था। चुनांचे इस पैत्रिक-अयोग्यता के आधार पर उनके आलोचनात्मक लेख दुकान में कभी स्थान नहीं पा सके। यही नहीं खुद प्रोफ़ेसर महोदय ने एक महफ़िल में उनके सामने ग़ालिब का एक मशहूर शेर ग़लत पढ़ा और दोहरे हो-होकर दाद वसूल की, सो अलग!

मैंने कहा "इससे क्या फ़र्क़ पड़ता है?"

बोले "फ़र्क़ क्यों नहीं पड़ता! मीरन साहब का क़िस्सा भूल गए? किसी ने उनके सामने 'ग़ालिब' का शेर ग़लत पढ़ दिया। त्योरियाँ चढ़ाकर बोले, 'मियाँ! यह कोई क़ुरान व हदीस है कि जैसे चाहा पढ़ दिया।'"

आपने देख लिया कि बहुत सी पुस्तकें वे इसलिए नहीं रखते थे कि उनको सख़्त नापसंद थीं और उनके लेखकों से उन्हें किसी न किसी विषय पर निजी मतभेद था। लेकिन कुछ गिने-चुने लेखक जो इस कोपभाजित श्रेणी से बाहर थे, उनकी पुस्तकें दुकान में रखते ज़रूर थे, मगर कोशिश यही होती थी कि किसी प्रकार बिकने न पाएँ, क्योंकि वे उन्हें बेहद पसंद थीं और उन्हें सेंत-सेंतकर रखने में अद्भुत आत्मिक आनंद महसूस करते थे। पसंद व नापसंद की इस अव्यापारिक खींचा-तानी का नतीजा यह निकला कि '*कुतुब अज़ जा न जुम्बद*[3]' (किताबें हिलती नहीं अपनी जगह से)।

सुनी सुनाई नहीं कहता। मैंने अपनी आँखों से देखा कि दीवान-ए-ग़ालिब (सचित्र) दुकान में महीनों पड़ा रहा। सिर्फ़ इसलिए कि उनका विचार था कि दुकान इसके बिना सूनी-सूनी मालूम होगी। मिर्ज़ा कहा करते थे "इनकी मिसाल उस अभागे क़साई जैसी है, जिसे बकरों से इश्क़ हो जाए।"

पुस्तकों से प्रेम का यह हाल था कि ठीक बोहनी और बिक्री के समय में भी अध्ययन में कमर-कमर डूबे रहते। यह कमर-कमर की क़ैद इस लिए लगानी पड़ी कि हमने आजतक उन्हें कोई किताब पूरी पढ़ते नहीं देखा। मिर्ज़ा इसी बात को यूँ कहते थे कि "बहुत कम किताबें ऐसी हैं जो अपने को उनसे पढ़वा सकी हैं।" यही नहीं,

अपने अध्ययन की तकनीक के मुताबिक़ रूमानी और जासूसी उपन्यासों को हमेशा उल्टा यानी अंत से पढ़ते ताकि हीरोइन का हश्र और हत्यारे का नाम फ़ौरन मालूम हो जाए। (उनका कथन है कि "उम्दा उपन्यास वही है जो इस तरह पढ़ने पर भी अंत से आरम्भ तक दिलचस्प हो") हर कहीं से दो-तीन पन्ने पलटकर पूरी पुस्तक के बारे में बेधड़क राय बना लेना और फिर उसे मनवाना उनके बाएँ हाथ का खेल था। कभी-कभी तो लिखाई-छपाई देखकर ही सारी किताब का मज़मून भाँप लेते थे। मुझे याद है कि उर्दू की एक नई छपी हुई किताब का काग़ज़ और रोशनाई सूँघकर न सिर्फ़ उसे पढ़ने बल्कि दुकान में रखने से भी इनकार कर दिया। उनके दुश्मनों ने उड़ा रखी थी कि वे पुस्तक का मुखपृष्ठ पढ़ते-पढ़ते ऊँघने लगते हैं और इस समाधिस्थ अवस्था में जो कुछ मन में आता है, उसे लेखक से संबद्ध करके हमेशा-हमेशा के लिए उससे विमुख हो जाते हैं।

और लेखक बेचारे किस गिनती-शुमार में हैं। अपने साहित्यिक अनुमान व समुद्र-शास्त्रीय ज्ञान का उल्लेख करते हुए एक दिन यहाँ तक डींग मारने लगे कि "मैं आदमी की चाल से बता सकता हूँ कि वह किस तरह की किताबें पढ़ता रहा है।" इत्तिफ़ाक़ से उसी समय एक भरे-भरे पिछाये वाली लड़की दुकान के सामने से गुज़री। चीनी क़मीज़ उसके जिस्म पर चुस्त जुमले की तरह कसी हुई थी। सिर पर एक रिबन सलीक़े से ओढ़े हुए, जिसे मैं ही क्या, कोई भी शरीफ़ आदमी, दुपट्टा नहीं कह सकता——इसलिए कि दुपट्टा कभी इतना भला मालूम नहीं होता। तंग मोरी और उससे तंग घेर की शलवार। चाल हालाँकि कड़ी कमान का तीर न थी, लेकिन उससे कहीं अधिक घातक। कमान कितनी भी उतरी हुई क्यों न हो, तीर नीश्चित रूप से सीधा ही आएगा। ठुमुक-ठुमुककर नहीं। लेकिन वह विश्व-सुन्दरी क़दम आगे बढ़ाने से पहले एक बार जिस्म के मध्यभाग को घंटे के पेंडुलम की तरह दायें-बाएँ यूँ हिलाती कि बस छुरी सी चल जाती। नतीजा यह कि उपर्युक्त जिस्म के अंग ने जितनी दूरी दक्षिण से उत्तर तक तय की, उतनी ही पूरब से पश्चिम तक। संक्षिप्त में हर क़दम पर एक आदम-क़द सलीब (†) बनाती हुई आगे बढ़ रही थी।

"अच्छा बताओ, उसकी चौमुखी चाल से क्या टपकता है?" मैंने पूछा।

"उसकी चाल से तो बस उसका चालचलन टपके है।" मुझे आँख मारकर लकहते हुए बोले।

"फिर वही बात! चाल से बताओ, कैसी किताबें पढ़ती है?" मैंने भी पीछा नहीं छोड़ा।

"पगले! यह तो खुद एक किताब है!" उन्होंने तर्जनी से सड़क पर उन पाठकों की ओर संकेत किया जो एक फ़र्लांग से उसके पीछे-पीछे विषय-सूची का अध्ययन करते चले आ आ रहे थे।

देखा गया है कि वही पुस्तक-विक्रेता कामयाब होते हैं जो पुस्तक के नाम और दाम के अलावा और कुछ जानने की कोशिश नहीं करते। क्योंकि उनका सामान्य-अज्ञान जितना व्यापक होगा, जितना अगाध व बहुआयामी होगा, उतने ही भरपूर आत्मविश्वास और मासूम गुमराही के साथ वे बुरी पुस्तक को अच्छा करके बेच सकेंगे। इसके विपरीत पुस्तकें पढ़ते-पढ़ते (अधूरी ही सही) हमारे हीरो को इस्लामी उपन्यासों के जोशीले संवाद याद हो गए थे और बग़दादी जिमख़ाने में कभी देशी ह्विस्की की ज़्यादती से महोदय उन्मत्त हो जाते तो इस्लाम के दुश्मनों पर घूँसे तान-तानकर तड़ाक-पड़ाक ऐसे डायलॉग बोलते, जिनसे शहीद होने की तीव्र इच्छा इस तरह टपकी पड़ती थी कि बैरों तक का ईमान ताज़ा हो जाता।

लगातार पन्ना पलटते रहने के कारण सब नई-नवेली किताबें अपनी कुँआरी करारी महक और जिल्द की कसावट खो चुकी थीं। ज़्यादातर पन्नों के कोने कुत्ते के कानों की तरह मुड़ गए थे और कुछ मनपसंद पृष्ठों की यह हालत थी कि '*जाना जाता है कि इस राह से लश्कर गुज़रा।*' और लश्कर (सेना) भी वह जो खून के बजाय पीक की छींटें उड़ाता हुआ गुज़र जाए! एक बार उनको भरी दुकान में अपने ही साइज़ के एक इस्लामी उपन्यास का इत्र निकालते देखा तो मिर्ज़ा ने टोका:

"लोग अगर किसी हलवाई को मिठाई चखते देख लें तो उससे मिठाई ख़रीदनी छोड़ देते हैं और एक तुम हो कि हर आए-गए के सामने किताबें चाटते रहते हो!"

फिर क्या था, पहले ही भरे बैठे थे। फट पड़े "किताब बेचना एक इल्म (ज्ञान) है, बरखुरदार! हमारे यहाँ आधे-जाहिल किताबें लिख सकते हैं, मगर बेचने के लिए जानकार होना ज़रूरी है। हूबहू उसी तरह जैसे एक अंधा सुरमा बना सकता है, मगर बीच बाज़ार में खड़े होकर बेच नहीं सकता। मियाँ! तुम क्या जानो, कैसे-कैसे महा-जाहिलों से पाला पड़ता है। (अपनी सर्वप्रिय पुस्तक की ओर इशारा करते हुए) जी में आती है, दीवान-ए-ग़ालिब (मौलाना इम्तियाज़ अली अर्शी की टीका समेत) उनके सिर पर दे मारूँ। तुम्हें यक़ीन नहीं आएगा। दो हफ़्ते होने को आये। एक मज़लूम (पीड़ित) सूरत क्लर्क यहाँ आया और मुझे उस कोने में ले जाकर कुछ शर्माते, कुछ लजाते हुए कहने लगा कि कृष्ण चंदर एम.ए. की वह किताब चाहिए, जिसमें "तेरी माँ के दूध में हुकुम का इक्का" वाली गाली है। ख़ैर, उसे जाने दो कि उस बेचारे को देखकर वाक़ई महसूस होता था कि यह गाली सामने रखकर ही उसकी सूरत बनाई गई है। मगर उन साहब को क्या कहोगे जो नए-नए उर्दू के लेक्चरर नियुक्त हुए हैं। मेरे परिचित हैं। इसी महीने की पहली तारीख़ को कॉलेज से पहली तनख़्वाह वसूल करके सीधे यहाँ आए और फूली हुई साँसों के साथ लगे पूछने, 'साहब! आपके यहाँ मंटो की वह किताब भी है, जिसमें "धरन-तख़्ता" (बर्बादी) के मायने हों?' और अभी परसों की बात है। एक मोहतरमा तशरीफ़ लाईं। उम्र यही अट्ठारह-उन्नीस की। निकलता हुआ मोटा बदन। अपनी गुड़िया की चोली पहने हुए थीं। दोनों हथेलियों की रिहल बनाकर उस पर अपना किताबी (लम्बूतरा) चेहरा रखा और लगीं किताबों को टूकुर-टुकुर देखने। इसी जगह जहाँ तुम खड़े हो। फिर पूछा, 'कोई नॉवेल है?' मैंने रातों की नींद हराम करने वाला एक नॉवेल पेश किया। रिहल पर से बोलीं, 'यह नहीं, कोई ऐसा दिलचस्प नॉवेल दीजिये कि रात को पढ़ते ही नींद आ जाए।' मैंने एक ऐसा ही निश्चेतक नॉवेल निकालकर दिया। मगर वह भी नहीं जँचा। दरअसल उन्हें किसी गहरे हरे आवरण वाली पुस्तक की तलाश थी, जो उनके शयनकक्ष में लाल परदों से "मैच" हो जाए। इस कड़े पैमाने पर सिर्फ़ एक पुस्तक पूरी उतरी। वह थी "मोटर ड्राइवरी के उस्ताद"(कविताबद्ध) जिसको दरअसल उर्दू भाषा में आत्महत्या की आसान युक्ति की पहली कविताबद्ध निर्देश-पुस्तिका कहना चाहिए।"

मैंने नौजवान ख़ातून की हिमायत की "हमारे यहाँ उर्दू में ऐसी किताबें बहुत कम हैं, जो बिना आवरण के भी अच्छी लगें। पुस्तक-आवरण तो ऐसा ही है, जैसे औरत के लिए कपड़े।"

"मगर हॉलीवुड में आजकल ज़्यादातर ऐक्ट्रेसें ऐसी हैं जो कपड़े पहन लें तो ज़रा भी अच्छी न लगें।" मिर्ज़ा ने बात को कहाँ से कहाँ पहुँचा दिया।

लेकिन नया-नया शौक़ था और अभी यह नौबत नहीं आई थी कि ऐसी घटनाओं से उनका मन सचमुच मलिन हो जाए। डेल कार्नेगी के मशवरे के मुताबिक़ वे हर समय मुस्कुराते रहते और हमने सोते में भी उनकी बाछें मैत्रीपूर्ण संदेश के तौर पर खुली हुई ही देखीं। उस ज़माने में, बक़ौल मिर्ज़ा, "वे छोटा देखते न बड़ा, हर ऐरे-ग़ैरे नत्थू ख़ैरे के साथ डेल कार्नेगी किया करते थे।" हद यह कि डाकिया अगर बैरंग चिट्ठी भी लाता तो इनाम देकर विदा करते। गाहकों को तो निजी मेहमान समझकर बिछ-बिछ जाते और अक्सर किताबों के साथ (और कभी उसके बिना ही) खुद भी बिक जाते।

सच है, शालीनता कभी बेकार नहीं जाती। चुनांचे चंद ही दिनों में दुकान चल निकली, मगर दुकानदारी ठप हो गई। यह विरोधाभास की स्थिति इस प्रकार पैदा हुई कि दुकान पर अब उन साहित्य-रसिकों की रेल-पेल रहने लगी, जो असल में उनसे कोका कोला पीने या फ़ोन करने आते और घाते में एकाध किताब उधार लेकर टलते। जिस गाहक से विशेष लगाव होता, उसके स्वागत को बेतहाशा दौड़ते हुए सड़क के उस पार जाते। फिर उसे अपने ऊँचे से स्टूल पर बिठाकर फ़ौरन दूसरे गाहक को चालीस क़दम तक विदा करने चले जाते। दोनों रस्मों के औपचारिक निर्वहन के दौरान दुकान किसी एक गाहक या गिरोह के सामूहिक संरक्षण में रहती। नतीजा? पुस्तकों की पंक्तियों में जगह-जगह खाँचे पड़ गए। जैसे दाँत टूट गए हों—— उनके अपने बयान के मुताबिक़ एक नए गाहक को (जिसने अभी-अभी 'ग़ुबार-ए-ख़ातिर'[4] की एक प्रति उधार ख़रीदी थी) पास वाले रेस्तरां में लेखक की मनभाती चीनी चाय पिलाने ले गए। हलफ़िया कहते थे कि "मुश्किल से एक घंटा वहाँ बैठा हूँगा, मगर वापस आकर देखा तो 'नूरुल-लुग़ात' (उर्दू शब्दकोष) की चौथी जिल्द की जगह ख़ाली थी।" ज़ाहिर है कि किसी बेईमान ने मौक़ा पाते ही हाथ साफ़ कर दिया। उन्हें उसकी जगह फ़साना-ए-आज़ाद[5] की चौथी जिल्द रखनी पड़ी और आख़िर को यही सेट चाकसू कॉलेज लाइब्रेरी को वी.पी. द्वारा सप्लाई किया।

चोरियाँ बढ़ती देखकर एक सज्जन ने जो उदघाटन दिवस से दुकान में उठते-बैठते थे, (बल्कि यह कहना चाहिए कि सिर्फ़ बैठते थे, इसलिए कि हमने उनको कभी उठते नहीं देखा) माल की अवैध "निकासी" रोकने के लिए यह सुझाव दिया कि "एक शिक्षित मगर ईमानदार मैनेजर रख लिया जाए।" हालाँकि उनका संकेत अपनी ही ओर था, लेकिन एक दूसरे साहब ने (जो संयोग से साहिब-ए-दीवान[6] थे और रोज़ाना अपने दीवान की बिक्री का हाल पूछने आते और उर्दू के भविष्य से निराश होकर लौटते थे) खुद को इस नौकरी के लिए पेश ही नहीं किया, बल्कि शाम को अपने घर वापस जाने से भी इनकार कर दिया —— यही सज्जन दूसरे दिन से 'कोषाध्यक्ष जी' कहलाए जाने लगे। सूरत से सज़ायाफ़्ता मालूम होते थे और अगर वाक़ई सज़ायाफ़्ता नहीं थे तो यह पुलिस की सच में भलमनसाहट थी। बहरहाल यहाँ उनके अस्तित्व से आपराधिक न्यासभंग की कोई आशंका न थी, क्योंकि दुकान की सारी बिक्री मुद्दतों से उधार पर हो रही थी। यूँ तो दुकान में पहले ही दिन से "आज नक़द कल उधार" की एक छोड़ तीन-तीन तख़्तियाँ लगी थीं, मगर हम देखते चले आए थे कि वे कल का काम आज ही कर डालने के क़ायल हैं। फिर यह कि उधार पर किताबें बेचने पर ही रुक जाते

तो सब्र आ जाता। लेकिन आख़िर-आख़िर में यहाँ तक सुनने में आया कि कुछ गाहक उनसे नक़द रूपए उधार लेकर पास वाली दुकान से किताबें ख़रीदने लगे।

मैं मौक़े की तलाश में था, इसलिए एक दिन एकांत पाकर उन्हें समझाया कि "खुदा के बन्दे! अगर उधार ही देना है तो बड़ी रक़म उधार दो ताकि लेने वाले को याद रहे और तुम्हें तक़ाज़ा करने में शर्म न आए। ये छोटे-छोटे उधार देकर खुदा के बन्दों के ईमान और अपनी विनम्रता काहे को आज़माते हो?"

मेरी बात उनके दिलको लगी दूसरे ही दिन कोषाध्यक्ष जी से बक़ायादार ख़रीदारों की सम्पूर्ण सूची वर्णानुक्रम के अनुसार तैयार कराई और फिर खुद उसी क्रम से उधार वसूल करने की पंचदिवसीय योजना बना डाली। लेकिन उर्दू वर्णमाला के पहले अक्षर"अलिफ़" ही की उगाही में एक ऐसा दुष्ट आ पड़ा कि छह महीने तक दूसरे अक्षर "बे" से शुरू होने वाले नामों की बारी ही नहीं आई। मैंने यह स्थिति देखी तो फिर समझायाः

"जब ये सज्जन तुम्हारे पास वर्णानुक्रम के अनुसार उधार लेने नहीं आए तो तुम उस क्रम से वसूल करने पर क्यों अड़े हुए हो?" सीधी सी बात थी मगर वे तर्क पर उतर आए।"

कहने लगे, "अगर दूसरे बेउसूल हैं तो इसका यह मतलब नहीं कि मैं भी बेउसूला हो जाऊँ। देखते नहीं, स्कूल में हाज़िरी के समय बच्चों के नाम वर्णानुक्रम के अनुसार पुकारे जाते हैं। मगर बच्चों को उसी क्रम से पैदा या पास होने पर मजबूर नहीं किया जा सकता। बोलते क्यों नहीं?"

इसके बावजूद मेरी नसीहत का इतना असर ज़रूर हुआ कि अब किताब उधार नहीं बेचते थे, तोहफ़े में दे दिया करते थे। कहते थे "जब रक़म डूबनी ही है तो फिर सवाब (पुण्य) से भी क्यों महरूम (वंचित) रहूँ?" इधर कुछ अरसे से उन्होंने बही-खाते लिखना भी छोड़ दिया था। जिसका यह तार्किक औचित्य प्रस्तुत करते कि "मैं पूँजी के नुक़सान में जान के घाटे का इज़ाफ़ा नहीं करना चाहता।" मिर्ज़ा ने यह लुट्टस मचती देखी तो एक दिन पूछाः

"आजकल तुम सरकार के दायित्व क्यों निभा रहे हो?"

"क्या मतलब?"

"तुमने देश की मुफ़्त शिक्षा का ज़िम्मा क्यों ले रखा है?"

अब उनके चेहरे पर बुद्धिमत्ता की वह छटा फैलने लगी जो आम तौर पर दिवाला निकलने के बाद उदय होती है। मिर्ज़ा का विचार है कि जब तक दो-तीन दफ़ा दिवाला न निकले, आदमी को दुकानदारी का सलीक़ा नहीं आता। चुनांचे इस मुबारक बर्बादी के बाद वे बुझ से गए और हर चीज़ में अपनी कमी महसूस करने लगे। वह स्थाई (BUILT-IN) मुस्कान भी ग़ायब हो गई और अब वे भूलकर किसी गाहक से सीधे मुँह बात नहीं करते थे। कहीं वह उधार न माँग बैठे। अक्सर देखा कि ज्यों ही गाहक ने दुकान में क़दम रखा और उन्होंने घुड़ककर पूछा "क्या चाहिए?"

एक दिन मैंने उन्हें रगड़ा "अंधे को भी नज़र आता है कि किताबों कि दुकान है। फिर तुम क्यों पूछते हो, क्या चाहिए? क्या चाहिए?"

फ़रमाया "क्या करूँ, कुछ-कुछ की सूरत ही ऐसी होती है कि यह पूछना पड़ता है।"

किताबें रखने के दोषी ज़रूर थे। अनमने मन से बेच भी लेते थे, लेकिन ख़रीदार की साहित्य-रसिकता व काव्य-मर्मज्ञता देखकर

उनके नकचढ़े-पन का अनुमान इस घटना से हो सकता है कि एक दफ़ा एक आदमी पूछता हुआ आया "शबदकोष है?" 'शब्द' का उच्चारण उसने 'शबद' किया।

उन्होंने नथुने फुलाकर जवाब दिया "स्टाक में नहीं है।"

वह चला गया तो मैंने कहा "यह सामने रखा तो है, तुमने इनकार क्यों कर दिया?"

कहने लगे "यह? यह तो शब्दकोष है। फिर यह भी कि उस बेचारे का काम एक शब्दकोष से थोड़ा ही चलेगा!"

हाँ उच्चारण पर याद आया कि इस संकट काल में उन्होंने दुकान में एक गया-गुज़रा रेडियो रख लिया था। उसी को गोद में लिए घंटों गड़गड़ाहट सुना करते थे, जिसे वे मुतख़ल्लिफ़ मुल्कों के मौसम का हाल कहा करते थे। बाद में मिर्ज़ा की ज़बानी इस गड़गड़-श्रवण का प्रयोजन यह मालूम हुआ कि इस रेडियाई दमे की बदौलत कम-से-कम गाहकों की ग़लत उर्दू तो सुनाई नहीं देती।

यह कोई ढकी-छिपी बात नहीं थी कि पुस्तक विक्रेताओं को हर पुस्तक पर औसतन तीस-चालीस फ़ीसद कमीशन मिलता है। बिना प्रयास व परिश्रम के। जिस धंधे में मुनाफ़े की यह दर साधारण बात हो, उसमें दिवाला निकालने के लिए असाधारण दिल और दिमाग़ दरकार हैं। और वे ऐसे ही दिल और दिमाग़ के मालिक निकले। अपनी गणितीय योग्यताओं का लिखित प्रमाण वे उस ज़माने ही में दे चुके थे, जब तिमाही परीक्षा की कॉपी में वे अपना नाम 'शेख़ सिबग़तुल्लाह' लिखते और ग़ैर-सरकारी तौर पर सिर्फ़ 'सिब्गे' कहलाते थे। उसी ज़माने से वे अपनी इस धारणा पर सख़्ती से क़ायम हैं कि गणित-विज्ञान किसी मुस्लिम-दुश्मन काफ़िर ने मुसलमानों के उत्पीड़न के लिए ईजाद किया है। इसलिए एक दिन यह समाचार सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि रात उन पर गणित-विज्ञान ही के किसी नियम के अनुसार यह उद्घाटित हुआ है कि अगर वे किताबें न बेचें (दुकान ही में पड़ी सड़ने दें) तो नव्वे प्रतिशत मुनाफ़ा होगा। मुनाफ़े की यह अंधा-धुंध दर सुनकर मिर्ज़ा के भी मुँह में पानी भर आया। लिहाज़ा निकटतम गली से सिब्गे के पास वह गुर मालूम करने पहुँचे, जिसकी मदद से वे भी अपनी पुराने कोटों की दुकान में ताला ठोंककर तुरंत दलिद्दर दूर करलें।

सिब्गे ने कान में लगी हुई पेन्सिल की मदद से अपने फ़ॉर्मूले की जो व्याख्या की, उसका लुब्बे-लुबाब आसान उर्दू में यह है कि अब तक उनका यह नियम रहा कि जिस दिन नई किताबें ख़रीदकर दुकान में लगाते, उसी दिन उन पर मिलने वाले चालीस प्रतिशत मुनाफ़े का हिसाब (निकटतम पाई तक) लगाकर ख़र्च कर डालते। लेकिन जब यह किताबें साल भर तक दुकान में पड़ी भिनकती रहतीं तो "क्रिसमस सेल" में इन बहुमूल्य निधियों को पचास प्रतिशत रियायत पर बेच डालते और इस प्रकार अपने हिसाब के अनुसार हर पुस्तक पर नव्वे प्रतिशत नाजायज़ नुक़सान उठाते। लेकिन नया फ़ॉर्मूला पता लगने के बाद अब वे किताबें बिल्कुल बेचेंगे ही नहीं, अतः अपनी इस निष्क्रिया-शील नीति से नव्वे प्रतिशत नुक़सान से साफ़ बच जाएँगे और यह मुनाफ़ा नहीं तो और क्या है?

कुतुब-फ़रोशी (पुस्तक-विक्रय) के अंतिम दौर में जब उन पर कठिन समय पड़ा तो हर एक गाहक को अपना माली दुश्मन समझते और दुकान से उसके ख़ाली हाथ जाने को अपने लिए शुभ व मंगलमय मानते। शनिवार को मेरा दफ़्तर एक बजे बंद हो जाता है। वापसी में यूँ ही ख़याल आया कि चलो आज सिब्गे़ की दुकान में झाँकता चलूँ। देखा कि वे ऊँचे स्टूल पर पैर लटकाए अपने कर्ज़दारों की सूचियों से टेक लगाए सो रहे हैं। मैंने खंखारकर कहाः

"क़ैलूला[1]?"

"स्टाक में नहीं है!" आँखें बंद किये-किये बोले।

यह कहकर ज़रा गर्दन उठाई। चुंधियाई हुई आँखों से अपनी दाहिनी हथेली देखी और फिर सो गए।

दाहिनी हथेली देखना उनकी बहुत पुरानी आदत है, जिसे विद्यार्थी जीवन की यादगार कहना चाहिए। होता यह था कि दिन भर बेइज़्ज़त और बदहाल होने के बाद वे रात को हॉस्टल में किसी-न-किसी के पीछे पड़ जाते कि सुबह तुम्हारा मुँह देखा था। चुनांचे उनके कमरे के साथी अपनी बदनामी के भय से सुबह दस बजे तक लिहाफ़ ओढ़े पड़े रहते और कछुए की तरह गर्दन निकाल-निकालकर देखते रहते कि सिब्गे़ दफ़ा हुए या नहीं। जब अपने-बेगाने सब आए-दिन की नहूसतों की ज़िम्मेदारी लेने से यूँ मुँह छिपाने लगे तो सिब्गे़ ने एक हिन्दू ज्योतिषी के सुझाव से यह आदत डाली कि सुबह आँख खुलते ही शकुन के लिए अपनी दाईं हथेली देखते और दिन भर अपने आप पर लानत भेजते रहते। फिर तो यह आदत सी हो गई कि नाज़ुक और निर्णायक क्षणों में, मसलन अख़बार में अपना रोल-नम्बर तलाश करते समय, ताश फेंटने के बाद और क्रिकेट की गेंद पर हिट लगाने से पहले, एक दफ़ा अपनी दाहिनी हथेली ज़रूर देख लेते थे। जिस ज़माने का यह ज़िक्र है, उन दिनों उनको अपनी हथेली में एक सुन्दरी साफ़ नज़र आ रही थी जिसका दहेज मुश्किल से उनकी हथेली में समा सकता था।

अलमारियों के अनगिनत ख़ाने जो कभी ठसाठस भरे रहते थे, अब ख़ाली हो चुके थे —— जैसे किसी ने भुट्टे के दाने निकाल लिए हों। मगर सिब्गे़ हाथ पर हाथ धरकर बैठने वाले नहीं थे। इसलिए अक्सर देखा कि दोपहर से तीसरे पहर तक शीशे के शो-केस की फ़र्ज़ी ओट में अपने मौसेरे-चचेरे भाइयों के साथ सिर जोड़े फ़्लश खेलते रहते। उनका विचार था कि "जुआ अगर क़रीबी रिश्तेदारों के साथ खेला जाए तो कम गुनाह होता है।" रही दुकानदारी तो वह इन हालों को पहुँच गई थी कि ताश के पत्तों के सिवा अब दुकान में काग़ज़ की कोई चीज़ नहीं बची थी। गाहकों की तादाद अगरचे तिगुनी-चौगुनी हो गई, मगर मोलतोल का अंदाज़ कुछ मुख़्तलिफ़! होते-होते जब यह नौबत आ गई कि राह चलने वाले भी भाव-ताव करने लगे तो कोषाध्यक्ष जी ने ख़ाकी गत्ते पर एक नोटिस बहुत सुन्दर लिखाई में लटका दियाः

"यह फ़र्नीचर की दुकान नहीं है।"

याद रहे कि उनकी आधी ज़िंदगी उन लोगों ने तंग करदी जो उधार पर किताबें ले जाते थे और बाक़ी आधी ज़िंदगी उन सज्जनों ने तंग कर रखी थी जिनसे वे खुद उधार लिए बैठे थे। इसमें शक नहीं कि उनकी

[1] क़ैलूला-दोपहर के खाने के बाद आराम करना; दोपहर का सोना। (अनु.)

तबाही में कुछ भाग उनकी सौभाग्य-रेखाओं का भी था। क़ुदरत ने उनके हाथ में कुछ ऐसा जस दिया था कि सोने को हाथ लगाएँ तो मिट्टी हो जाए। लेकिन इंसाफ़ से देखा जाए तो उनकी बर्बादी का श्रेय क़ुदरत के अलावा उन कृपालुओं के सिर जाता था जो अत्यंत निश्छलता और स्थितप्रज्ञता के साथ तन-मन-धन-वचन से उनको नुक़सान पहुँचाते रहे। दूसरी वजह जैसा कि ऊपर इशारा कर चुका हूँ, यह थी कि वे अपने ख़ास दोस्तों से अपनी हाजत और उनकी हैसियत के अनुसार उधार लेते रहे और क़र्ज़े को मुनाफ़ा समझकर खा गए। बक़ौल मिर्ज़ा "उनका दिल बड़ा था और क़र्ज़ लेने में उन्होंने कभी कृपणता से काम नहीं लिया।" क़र्ज़ पर लेनदेन उनके स्वभाव में इस क़दर रच बस चुका था कि मिर्ज़ा का विचार था कि "सिब्ते दरअसल सुहरावर्दी सरकार को खुक्ख करने के मक़सद से अपनी आमदनी नहीं बढ़ाते। इसलिए कि आमदनी बढ़ेगी तो निश्चित रूप से इनकम-टैक्स भी बढ़ेगा।" अब तो उनकी यह कामना है कि बाक़ी बची ज़िन्दगी "बैंक ओअर ड्राफ़्ट" पर बदनामी के साथ गुज़ार दें। लेकिन उनकी नीयत बुरी नहीं थी। यह और बात है कि हालात ने उनकी नेकनीयती को उभरने न दिया। पिछले रमज़ान में मुलाक़ात हुई तो बहुत उदास और चिंतित पाया। बार-बार पतलून की जेब से शुभ हथेली निकालकर देख रहे थे।

पुछा, "सिब्ते क्या बात है?"

बोले, "कुछ नहीं। प्रोफ़ेसर अब्दुल क़ुद्दूस से क़र्ज़ लिए तेरह साल होने को आए। आज यूँही बैठे-बैठे ख़याल आया कि अब वापसी का इंतज़ाम करना चाहिए, वर्ना वे भी दिल में सोचेंगे कि शायद मैं देना ही नहीं चाहता।"

जवानी में ख़ुदा के क़ायल नहीं थे, मगर जैसे-जैसे उम्र बढ़ती गई, ईमान पक्का होता गया। यहाँ तक कि अब वे अपनी सारी मूर्खताओं को सच्चे मन से अल्लाह की देन समझने लगे थे। स्वभाव ही ऐसा पाया था कि जब तक छोटी-से छोटी बात पर बड़ी-से-बड़ी क़ुर्बानी न दे देते, उन्हें चैन नहीं पड़ता था। बक़ौल मिर्ज़ा, वे अनलहक़[7] (अहम् ब्रह्मास्मि) कहे बिना सूली पर चढ़ना चाहते थे। व्यापार को उन्होंने आजीविका का साधन नहीं, जिहाद का बहाना समझा और बहुत जल्द शहीद हुए।

दुकान की दीवार का प्लास्टर एक जगह से उखड़ गया था। उस स्थान पर (जो लगभग दो वर्ग गज़ था) उन्होंने एक लाल तख़्ती, जिसपर उनका जीवन-दर्शन उर्दू की नस्तालीक़ लिपि में उत्कीर्ण था, टाँग दी:

'बातिल (असत्य) से दबने वाले ऐ आसमाँ नहीं हम'

इसमें बिल्कुल कोई आत्मश्लाघा नहीं थी, बल्कि देखा जाए तो उन्होंने विनम्रता ही से काम लिया। क्योंकि असत्य तो असत्य, वे सत्य से भी दबने वाले नहीं थे! मिर्ज़ा अक्सर नसीहत करते कि "मियाँ! कामयाबी चाहते हो तो कामयाब पुस्तक-विक्रेताओं की तरह ज़रुरत भर सच बोलो और हर किताब के गुण-दोष पर ज़िद्दम-ज़िद्दा करने के बजाय गाहकों को उन्हीं की पसंद की किताबों से बरबाद होने दो। जो बेचारा तरबूज़ से बहल जाए उसे ज़बरदस्ती अंगूर क्यों खिलाते हो?" लेकिन सिब्ते का कहना था कि "बीसवीं सदी में जीत उन्ही की है, जिनके एक हाथ में दीन (धर्म) है और दूसरे में दुनिया। और दायें हाथ को पता नहीं कि बाएँ में क्या है! तिजारत और शराफ़त में संयोग संभव नहीं।"

तिजारत में तुरंत नाकामी उनके निकट कुलीनता की कसौटी थी। उन्हीं का कथन है कि "अगर कोई आदमी तिजारत में बहुत जल्द नाकाम न हो सके तो समझ लो उसकी वंशावली में दोष है।" इस लिहाज़ से उन्होंने क़दम-क़दम पर, बल्कि हर सौदे में अपनी कुलीनता का काफ़ी सबूत दिया।

संवेदनशील आदमी थे। इसपर दुर्भाग्य यह कि एक नाकाम पुस्तक-विक्रेता की हैसियत से उन्हें इंसानों के स्वभाव का बहुत निकट से अध्ययन करने का अवसर मिला। इसी लिए बहुत जल्द इंसानियत से निराश हो गए। उन्होंने सारी उम्र कष्ट ही कष्ट झेले। शायद इसी कारण उन्हें यक़ीन हो चला था कि वे सच पर हैं। कब के जीवन-विमुख हो चुके थे और उनकी बातों से ऐसा लगता था मानो अब सिर्फ़ अपने कर्ज़दाताओं की तसल्ली के लिए जी रहे हैं। अब हम नीचे वो अनुभव व पूर्वाग्रह संक्षिप्त में बयान करते हैं जो उनकी चालीस वर्षीय अनुभवहीनता का निचोड़ हैं।

दुकान खोलने से चार-पाँच महीने पहले एक मैत्रीपूर्ण साहित्यिक शिष्टमंडल (संघीशील-लेखक संघ'[8]) के साथ सीलोन हो आए थे, जिसे ईर्ष्यालू लोग लंका के नाम से याद करते थे। इस टापू के तीन-दिवसीय सैर-सपाटे के बाद उठते-बैठते "विकसित देशों" के साहित्य-प्रोत्साहन व विद्या-प्रेम के चर्चे रहने लगे।

एक दफ़ा देशवासियों की नाक़दरी का गिला करते हुए फ़रमायाः "आपके यहाँ तो अभी तक अज्ञानता के दोष दूर करने पर पुस्तकें लिखी जा रही हैं, जिनका उद्देश्य सिर्फ़ उन दोषों को दूर करना है जो सिर्फ़ अज्ञानता दूर होने से पैदा हो गए हैं। साहब! वहाँ ज्ञान की ऐसी क़दर है कि किताब लिखना, छापना, किताब बेचना, किताब ख़रीदना, हद यह कि किताब चुराना भी सवाब (पुण्यकार्य) में शामिल है। यक़ीन कीजिए, विकसित देशों में तो जाहिल आदमी ठीक से जुर्म भी नहीं कर सकता।"

मेरी शामत आयी थी कि मेरे मुँह से निकल गया, "ये सब कहने की बातें हैं। विकसित देशों में कोई किताब उस समय तक अच्छी नहीं मानी जाती, जब तक कि उसकी फ़िल्म न बन जाए और फ़िल्म बनने के बाद किताब पढ़ने का सवाल ही पैदा नहीं होता।"

उन्हें गुस्सा आ गया "तीन पैसे की छोकरी" का कोना मोड़कर वापस अलमारी में रखी और मेरे लबो-लहजे की हूबहू नक़ल उतारते हुए बोले "और आपके यहाँ यह हालत है कि नौजवान उस वक़्त तक उर्दू की कोई किताब पढ़ने की ज़रुरत महसूस नहीं करते, जब तक पुलिस उसे अश्लील घोषित न करदे और अश्लील घोषित होने के बाद उसके बेचने का सवाल ही पैदा नहीं होता।"

उनके तंज़ (व्यंग्य) में ताने का रंग आ चला था, इसलिए मैंने झट से हामी भर ली कि "पुलिस अगर दिल से चाहे तो तमाम अच्छी-अच्छी किताबों को अश्लील घोषित करके नौजवानों में उर्दू साहित्य से गहरी दिलचस्पी पैदा कर सकती है।"

मेरे लहजे का नोटिस न लेते हुए उल्टे मुझी से उलझने लगे कि "आप बात की तह तक नहीं पहुँचे। आप धड़ाधड़ किताबें छाप सकते हैं, मगर ज़बरदस्ती पढ़वा नहीं सकते।"

मैंने कहा, "क्यों नहीं? उठाके पाठ्यक्रम में प्रविष्ट कर दीजिये।"

वे भला हार मानने वाले थे। कहने लगे, "अगर एक पूरी-की-पूरी पीढ़ी को हमेशा के लिए किसी अच्छी किताब से विमुख करना हो तो सीधा उपाय यह है कि उसे पाठ्यक्रम में प्रविष्ट कर दीजिए।"

कुतुब फ़रोशी (पुस्तक-विक्रय) की बदौलत सिब्ग़े का साबक़ा ऐसे-ऐसे पढ़ने और न पढ़ने वालों से पड़ा

हज़ारों साल नर्गिस जिनकी बेनूरी पे रोती है[9]

इनमें ख़य्याम के वो आशिक़ भी शामिल थे जो मूल रुबाइयों में अनुवाद की ख़ूबियाँ तलाश करते फिरते थे। इनमें वो जर्जर पुस्तक-पाठक भी थे जो कजलाये हुए कोयलों को दहकाने के लिए बक़ौल मिर्ज़ा, "अश्लील उपन्यासों से मुँह काला करते और समझते कि हम उर्दू का सम्मान बढ़ा रहे हैं।" (यह कथन उन्ही का है कि "अश्लील पुस्तक में दीमक नहीं लग सकती क्योंकि दीमक ऐसा काग़ज़ खाकर नस्ल वृद्धि के योग्य नहीं रहती।") इनमें वो सौभाग्यशाली भी शामिल थे, जिनके लिए पुस्तक सर्वश्रेष्ठ साथी है और वो अभागे भी जिनके लिए एकमात्र साथी!

और इस बेनाम समूह में नवीनता के उपासक वो पाठक भी शामिल थे जो हर क्षण ताज़ा-से-ताज़ा, नूतन-से-नूतन के तलबगार थे। हालाँकि उन जैसों को मालूम होना चाहिए कि सिर्फ़ डिक्शनरी ही ऐसी किताब है, जिसे वे जब भी देखें, इंशाअल्लाह नई मालूम होगी। लेकिन एक हद तक सिब्ग़े की भी ज़्यादती थी कि नई उर्दू किताबों को अपने दिल और दुकान में जगह देना तो बड़ी बात है, चिमटे से पकड़कर भी बेचने को तैयार न थे। एक दिन 'ख़ाक़ानी-ए-हिन्द' उस्ताद 'ज़ौक़'[10] के क़सीदों (प्रशस्तियों) की गर्द साप्ताहिक टाइम से झाड़ते हुए किटकिटाकर कहने लगेः

"आजकल लोग यह चाहते हैं कि साहित्य एक 'कैप्सूल' में बंद करके उनके हवाले कर दिया जाए, जिसे वे कोका-कोला के घूँट के साथ ग़टक से हलक़ से उतार लें। मानव सभ्यता पत्थर और भोजपत्र के युग से गुज़रकर अब रीडर्स-डाइजेस्ट के दौर तक आ गई है। समझे? यह लेखकों का दौर नहीं, पत्रकारों का दौर है! पत्रकारों का!"

मैंने डरते-डरते पूछा " मगर पत्रकारिता में क्या ख़राबी है?"

बोले "कुछ नहीं। बड़ा लेखक अपनी आवाज़ पब्लिक तक पहुँचाता है, मगर बड़ा पत्रकार पब्लिक की आवाज़ पब्लिक तक पहुँचाता है!"

लेखकों की चर्चा चल पड़ी तो एक वारदात और सुनते चलिए। सात-आठ महीने तक वे उर्दू कहानियों का एक संग्रह बेचते रहे, जिसके मुखपृष्ठ पर लेखक के अपने दस्तख़त थे और ऊपर यह वाक्यः "जिस पुस्तक पर लेखक के हस्ताक्षर न हों उसे जाली समझा जाए।" एक रोज़ उन्हें रजिस्ट्री से लेखक के वकील की मार्फ़त नोटिस मिला कि "हमें प्रामाणिक सूत्रों से ज्ञात हुआ है कि आप हमारे मुअक्किल की पुस्तक का एक प्रमाणित एडिशन आठ माह की मुद्दत से कथित तौर पर बेच रहे हैं, जिस पर उपर्युक्त लेखक के हस्ताक्षर तिथि सहित मौजूद हैं। आपको इस नोटिस द्वारा सूचना व चेतावानी दी जाती है कि उपरिनिर्दिष्ट पुस्तक एवं हस्ताक्षर पूर्णतया जाली हैं। मूल प्रति में लेखक के हस्ताक्षर सिरे से हैं ही नहीं।" इस घटना से उन्होंने ऐसा सबक़ सीखा कि भविष्य में कोई ऐसी किताब दुकान में नहीं रखी जिसपर किसी के भी हस्ताक्षर हों। बल्कि जहाँ बन पड़ता,

उन्ही किताबों को तरजीह देते, जिन पर लेखक का नाम तक दर्ज नहीं होता। मसलन अल्फ़- लैला, दंड संहिता, रेलवे टाइम टेबुल, इंजील।

विनाश का जो मौलिक मार्ग बल्कि राजमार्ग उन्होंने अपने लिए निर्मित किया, उस पर वे तो क्या कुबेर देव भी ज़्यादा देर चल नहीं सकते थे, क्योंकि मंज़िल बहुत दूर नहीं थी। आख़िर वह दिन आ ही गया जिसका दुश्मनों को इंतज़ार था और दोस्तों को अंदेशा। दुकान बंद हो गई। कोषाध्यक्ष जी की तनख़्वाह ढाई महीने से चढ़ी हुई थी। अतः ख़ाली अलमारियाँ, एक अदद लकड़ी की गुल्लक जो बक़ायादारों की सूचियों से मुँह तक भरी थी। चाँदी का सुन्दर सिगरेटकेस, जिसे खोलते ही महसूस होता था मानो बीड़ी का बंडल खुल गया। निसेनी (लकड़ी की सीढ़ी), जिसकी सिर्फ़ ऊपर की तीन सीढ़ियाँ बाक़ी रह गई थीं, नींद की गोलियों की शीशी, कराची रेस में दौड़ने वाले घोड़ों की वंशावलियाँ, नवम्बर से दिसंबर तक का मुकम्मल कैलेंडर कील समेत। ये सब कोषाध्यक्ष जी ने सिब्गे़ की पहली ग़फ़लत में हथिया लिए और रातों-रात अपनी तनख़्वाह की एक-एक पाई गधा-गाड़ी में ढो-ढोकर ले गए। दूसरे दिन दुकान का मालिक बक़ाया किराए की मद में जो चल व अचल संपत्ति उठाकर या उखाड़कर ले गया, उसके विस्तार की यहाँ न गुंजाइश है न ज़रुरत। हमारे पढ़ने वालों को बस इतना इशारा काफ़ी होगा कि उनमें सबसे क़ीमती चीज़ बिना चाबी के बंद होने वाला जर्मनी का बना एक फ़ौलादी ताला था। पुराना ज़रूर था, मगर एक ख़ूबी इसमें ऐसी पैदा हो गई थी जो हमने नए-नए जर्मन तालों में भी नहीं देखी। यानी बिना चाबी के बंद होना और उसी तरह खुलना!

सिब्गे़ बेचारे के हिस्से में सिर्फ़ अपने नाम (फ़र्ज़ी संतानों सहित) का साइन बोर्ड आया, जिसको सात रूपये मज़दूरी देकर घर उठवा लाए और दूसरे दिन सवा रूपये में मोहल्ले के कबाड़ी के हाथ बेच डाला। मगर उन्होंने हिम्मत नहीं हारी और दो महीने तक अपनी हथेली का निशदिन अध्ययन करने के बाद एक ट्रेनिंग कॉलेज में स्कूल मास्टरों को पढ़ाना शुरू कर दिया। मिर्ज़ा के शब्दों में "सिब्गे़ के कुतुब-फ़रोशी वाले जीवन के अध्याय का अंजाम बहुत कहानीनुमा रहा।" जिस कहानी की ओर यहाँ मिर्ज़ा का संकेत है, वह दरअसल काईलिंग की एक मशहूर चीनी कहानी है, जिसका हीरो एक आर्टिस्ट है। एक दिन वह अपनी मॉडल लड़की की सुन्दरता से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसी समय अपने सारे ब्रश और कैनवास समेट-समाटकर जला डाले और एक सर्कस में हाथियों को सधाने का काम करने लगा।

***

(ख़ाकम बदहन; जनवरी 1962)

अनुवादक : डॉ. आफ़ताब अहमद
वरिष्ठ व्याख्याता, हिंदी-उर्दू, कोलंबिया विश्वविद्यालय, न्यूयॉर्क

[1] होश ख़लीजाबादीः बीसवीं सदी के उर्दू के रूमानी व इनक़लाबी शायर 'जोश मलीहाबादी' के नाम की पैरोडी।

[2] मेहदी-उल-अफ़ादीः बीसवीं सदी के शैलीकार रूमानी लेखक, ललित निबंधों और अपने पत्रों के लिए प्रसिद्द हैं। उनके एक बेहद रूमानी ललित-निबंध का शीर्षक "बिन्त-ए-अम" (चचेरी बहन) है।

[3] यह फ़ारसी कहावत '*क़ुतुब अज़ जा नेमी जुम्बद*' ('ध्रुव अपनी जगह से नहीं हिलता') की पैरोडी है। 'क़' ध्वनि को 'क' से बदल कर 'क़ुतुब'(ध्रुव) को 'कुतुब' (किताबें) कर दिया है।

[4] अर्थात 'दिल का ग़ुबार'- 1942 में अहमद नगर जेल में मौलाना अबुल कलाम आज़ाद द्वारा रचित रचना।

[5] पंडित रतननाथ 'सरशार' द्वारा रचित लोकप्रिय उर्दू उपन्यास जो 1880 में चार मोटी जिल्दों में प्रकाशित हुआ।

[6] साहिब-ए-दीवानः ऐसा कवि जिसका कविता-संग्रह विशेष रूप से ग़ज़ल-संग्रह प्रकाशित हो चुका हो।

[7] नवीं-दसवीं सदी के सूफ़ी 'मंसूर' को 'अनलहक़' कहने पर कुफ़्र के इल्ज़ाम में सूली पर चढ़ा दिया गया था।

[8] 'प्रगतिशील लेखक संघ' की पैरोडी का अनुवाद है।

[9] पैरोडीः 'हज़ारों साल नर्गिस अपनी बेनूरी पे रोती है
बड़ी मुश्किल से होता है चमन में दीदावर पैदा' (इक़बाल)

अर्थात प्रकृति को हज़ारों साल प्रतीक्षा करनी पड़ती है, तब कहीं मुश्किल से कोई एक बुद्ध पुरुष पैदा होता है।

[10] शेख़ इब्राहीम 'ज़ौक़': फ़ारसी कवि 'ख़ाक़ानी' के नाम पर इनको 'ख़ाक़ानि-ए-हिन्द' की उपाधि मिली। 'ज़ौक़', ग़ालिब, 'मोमिन' और मुग़ल बादशाह बहादुर शाह 'ज़फ़र' के समकालीन शायर और शायरी में 'ज़फ़र' के उस्ताद थे।